Shodhshauryam, International Scientific Refereed Research Journal
© 2023 SHISRRJ | Volume 6 | Issue 1 | ISSN : 2581- 6306

भारतीय संस्कृति में तप
(जैनधर्म के विशेष संदर्भ में)

'डॉ. सत्यनारायण भारद्वाज'
सहायक आचार्य, प्राकृत एवं संस्कृत विभाग, जैन विश्वभारती संस्थान, लाडनूं, जिला–नागौर (राजस्थान)
सब्यसाची षड़ंगी
सहायक आचार्य, प्राकृत एवं संस्कृत विभाग, जैन विश्वभारती संस्थान, लाडनूं, जिला–नागौर (राजस्थान)

Article Info

Publication Issue :
January-February-2023
Volume 6, Issue 1
Page Number : 01-07
Article History
Received : 01 Jan 2023
Published : 09 Jan 2023

शोधालेख–सार– तप भारतीय आचार की आध्यात्मिक शक्ति को उजागर करने का एक उपक्रम है। तप चेतना के ऊर्ध्वारोहण की महत्त्वपूर्ण प्रक्रिया है। 'तप' शब्द में ज्ञान–विज्ञान का विकास निहित है। भारतीय संस्कृति में ही नहीं, मानवीय संस्कृति में भी जो कुछ भी शाश्वत, उदात्त और महत्त्वपूर्ण है, वह सब तप से ही संभूत हैं। तपस्या से चित्त निर्मल होता है क्योंकि मलिन चित्त में उपदेश के बीज अंकुरित नहीं हो सकते। अध्यात्म विद्या के पुष्प तपोनिष्ठ जीवन में ही खिलते हैं। तप की आभा प्राणीमात्र को जागरण का संदेश देती है। तप ही जीवन का आदर्श और व्यवहार का सौंदर्य प्रस्तुत करता है। मानव–जीवन में उत्तरोत्तर मानवीय गुणों का संवाहक, संरक्षक और संवर्धन तप के द्वारा ही संभव है। प्रस्तुत शोधालेख तीनों परम्पराओं में प्रचलित तपश्चर्या के महत्त्व के साथ ही जैन परम्परा में प्रचलित तप को विशेष रूप से व्याख्यायित करता है।

मुख्य शब्द : तप, बाह्य तप, अभ्यान्तर तप, अनशन, ऊनोदरी, भिक्षावृत्ति, प्रायश्चित, विनय, वैयावृत्ति।

भूमिका : भारतीय संस्कृति में प्रवाहित वैदिक, बौद्ध एवं जैन इन तीनों ही धाराओं में तप को अत्यधिक महत्त्व दिया गया है। यहां सर्वप्रथम वैदिक परम्परा में वर्णित तप के महत्त्व पर प्रकाश डाला जा रहा है–

वैदिक परम्परा में तप : वैद्धिक साधना पद्धति में तप को साधना का आवश्यक अंग माना गया है। यद्यपि आरंभ में वैदिक परंपरा तपप्रधान नहीं थी किन्तु उत्तरकाल में उन्होंने तप के संदर्भ में उद्घोषणा करते हुए कहा कि– तपस्या से ही ब्रह्म खोजा जा सकता है।[1] तपस्या से ही ब्रह्म को जानो।[2] तप ही ब्रह्म है। तपो ब्रह्मेति। तपो ब्रह्म परामृतम्।[3] तैत्तिरीय आरण्यक में भी उल्लेख है कि ऋतं तपः, सत्यं तपः श्रुतं तपः, शान्तं तपो, दानं तपः।

बौद्ध परम्परा में तप : बौद्ध परम्परा में भी तप का महत्त्वपूर्ण स्थान है। प्रारम्भ में बौद्ध भिक्षु तप करते थे। स्वयं बुद्ध ने भी कठोर तपस्याएं की किन्तु तप का फलाभाव देखकर उनका मन तप से श्रेय (सिद्धि) प्राप्ति के प्रति संदिग्ध हो गया। वे मज्झिमनिकाय महासीहनादसुत्त में सारिपुत्र के समक्ष अपनी कठिन तपश्चर्या का विस्तृत वर्णन करते हैं। सुत्तनिपात में भी बुद्ध राजा श्रोणिक से कहते हैं–अब मै तपश्चर्या के लिए जा रहा हूं, वहां मेरा मन लगता है। बौद्ध ग्रंथ विसुद्धिमग्ग में ''धूतांगनिद्देस''[4] अवधूत साधना का प्रमाण है। बुद्ध ने कहा तपश्चर्या करने से कुशल धर्म बढ़ते हैं, अकुशल धर्म घटते हैं, तप अवश्य करना चाहिए। बौद्ध दर्शन तप को चित्त–शुद्धि का कारण मानता है।

Copyright: © the author(s), publisher and licensee Technoscience Academy. This is an open-access article distributed under the terms of the Creative Commons Attribution Non-Commercial License, which permits unrestricted non-commercial use, distribution, and reproduction in any medium, provided the original work is properly cited

जैन परम्परा में तप : तप अध्यात्म और योग में प्रवेश करने का द्वार है। तप मोक्ष मार्ग का सोपान है। जैन साधना पद्धति के चार अंगों में तप का महत्त्वपूर्ण स्थान है। आत्मज्ञ ज्ञान से जीवादि को जानता है, दर्शन से श्रद्धा करता है, चारित्र से कर्माश्रव का निरोध करता है और तप से विशुद्धि को प्राप्त करता है। आचार्य कुंदकुंद ने भी इन चारों अंगों के संयम और समागम से मोक्ष की प्राप्ति स्वीकार की है।[5] 'तवोमग्गई' में भी यही भाव व्यक्त किया है। आंतरिक वैराग्य की पुष्टि और जो आठ प्रकार की कर्म ग्रंथियों को तपाता है, उसका नाश करता है, उसे तप कहते हैं।[6] तप द्वारा अनादि काल से बंधे संस्कार क्षीण हो जाते हैं। तप्पते अणेण पावं कम्ममिति तपो।[7] जैप परम्परा में तप के बाह्य व आभ्यन्तर भेद से बारह भेद माने गये हैं, जो इस प्रकार हैं –

बाह्य तप : 1. अनशन, 2. ऊनोदरी, 3. भिक्षावृत्ति, 4. रस–परित्याग, 5. काय–क्लेश, तथा 6. प्रतिसंलीनता

अभ्यान्तर तप : 1. प्रायश्चित, 2. विनय, 3. वैयावृत्ति, 4. स्वाध्याय, 5. क्षेत्र का विवेक तथा 6. ध्यान।

अनशन : अनशन नाम अशन त्यागः। कर्मों का क्षय करने के लिए सोद्देश्य आहार परित्याग करना अनशन है। एहलौकिक, पारलौकिक आशंसा से रहित आत्मिक बल की वृद्धि के लिए आहार का परित्याग करना अनशन है। तत्त्वार्थराजवार्तिक में मंत्रादि दृष्ट फल की उपेक्षा किए बिना उपवास करने को अनशन कहा है।[8]

अनशन दो प्रकार का होता है– 1. इत्वरिक, 2. यावत्कथित

1. **इत्वरिक –** सावधिक चतुर्विध आहार का त्याग करना।
2. **यावत्कथिक –** जीवन पर्यन्त चतुर्विध आहार का त्याग करना।

निशीथचूर्णि के अनुसार बारह वर्षीय आहार की क्रमशः इस प्रकार कमी की जाती है, जिससे आहार और आयु एक साथ ही समाप्त हों। अंतिम वर्ष के चार महिनों में मुंह में तेल भरकर रखा जाता है। मुखयंत्र विसंवादी न हो। नमस्कार मंत्र आदि का उच्चारण करने में असमर्थ न हो[9] रत्नकरंडश्रावकाचार में आहार के अल्पीकरण का क्रम इस प्रकार है –पहले आहार का त्याग कर छाछ या गर्म जल पीने का अभ्यास किया जाता है फिर यथाशक्ति उपवास करते हुए जल आदि का परित्याग किया जाता है।

ऊनोदरी : इसे अवमौदरिका भी कहा जाता है। अवम का अर्थ है– कम एवं उदर का अर्थ है–पेट। इसमें भूख से कम खाया जाता है। भरपेट न खाने के लिए इच्छा, रसनादि इंद्रियों और मन पर नियंत्रण रखना पड़ता है। जिस व्यक्ति की आहार की जितनी मात्रा है, उससे कम खाना अवमौदर्य है। आगमों में आहर का प्रमाण बताया गया है। चार भागों में से दो भाग भोजन, एक भाग पानी व एक भाग वायु के लिए रहना चाहिए। यदि सलक्ष्य एक ग्रास भी कम खाया जाए तो वह भी ऊनोदरी तप है।[10]

स्वादविजय अवमौदर्य तप की पुष्टि से होती है। उत्तराध्ययन सूत्र में द्रव्यादि की अपेक्षा उसके पांच भेद किए गए हैं –

1. **द्रव्यत –** आहार की मात्रा से कुछ कम खाना।
2. **क्षेत्रत –** आहार की प्राप्ति स्थान विशेष से करना।
3. **कालत –** निश्चित समय पर आहार प्राप्त हो तो लेना।
4. **भावत –** आहार की प्राप्ति अभिग्रहपूर्वक करना।
5. **पर्यवत –** द्रव्यादि सबके द्वारा ऊनोदरी करना पर्यव ऊनोदरी है।[11]

भिक्षाचरी : भिक्षाचरी, साधना की विशिष्ट अवस्था है, आचारांगसूत्र से यह प्रमाणित होता है। प्रस्तुत ग्रंथ के द्वितीय अध्याय में आहार अन्वेषक भिक्षु की अर्हताओं का उल्लेख करते हुए कहा है कि उस भिक्षु को कालज्ञ, बलज्ञ, समयज्ञ आदि होना चाहिए। अंतिम विशेषता अप्रतिज्ञ होना चाहिए, ऐसा उल्लेख है। चूर्णिकार के अनुसार अप्रतिज्ञ का अर्थ– वह भिक्षु इस प्रतिज्ञा से आहार आदि ग्रहण करता है कि मैं भोजन करूंगा और अन्य मुनिजन भी इसको ग्रहण करेंगे।

रस–परित्याग : सरस वस्तुओं का अधिक आसेवन करने से विकृति बढ़ती है। उत्तराध्ययन में कहा है– पायं रसा दित्तिकरा नराणं इस संदर्भ में रस–परित्याग से तात्पर्य है–दूध, दही, घी आदि भोजन का त्याग करना।[12] स्वाद युक्त आहार की क्रिया को रस हा जाता है। अतः दूध, दही आदि विगय व नमक आदि द्रव्य, अम्ल आदि रसों का त्याग करना रस परित्याग है।[13]

आचारांग के अनुसार रस परित्याग कर्म धुनन की महत्त्वपूर्ण प्रक्रिया है। इसी ग्रंथ में कामचिकित्सा का महत्त्वपूर्ण उपाय 'रस–परित्याग' स्वीकार किया है। अवि णिब्बलासए।[14] मुनि निर्बल भोजन करे क्योंकि सरस भोजन से मांस व रक्त का उपचय होता है। पौष्टिक आहार से वीर्य का उपचय होता है। वीर्य की बहुलता से संवेग उद्दीप्त हो जाते हैं। ठाणं में कामसंज्ञा की उत्पत्ति के चार कारणों में एक कारण मांस और रक्त का उपचय माना है।[15]

कायक्लेश : कायक्लेश शब्द दो शब्दों से निष्पन्न होता है– काय और क्लेश। काय का अर्थ है– शरीर और क्लेश का अर्थ है– परिताप। इस शब्द संरचना के आधार पर इसका अर्थ है –शरीर को पीड़ा देना। वास्तव में कायक्लेश का यह अर्थ समीचीन नहीं है। कायक्लेश का तात्पर्य है–शरीर को सुख मिले, ऐसी भावना का त्याग करना। उत्तराध्ययन सूत्र में इसका अर्थ– वीरासन आदि आसन किया है।[16] स्थान, समय, धर्मोदय के हेतुभूत विविध साधनों से शास्त्रानुसार विवेकपूर्ण आतापना आदि से शरीर को परिताप देना, कायक्लेश है।[17] आचार्य वसुनंदी ने अम्ल, निर्विकृति, एक स्थान, उपवास आदि को कायक्लेश कहा है।[18]

पातंजल योगदर्शन में अष्टांग योग के तीसरे अंग ''आसन'' का आचारांग सम्मत कायक्लेश तप मे अंतर्भाव हो जाता है। महावीर ने कहा जब तक मनुष्य देह के प्रति अनासक्त नहीं होते तब तक यथार्थ में वे धर्म का ज्ञान नहीं कर सकते।

प्रतिसंलीनता : मन की एकाग्रता एवं इंद्रियादि को आत्माभिमुखी करने के लिए किए गए तप को ''प्रतिसंलीनता तप'' कहा जाता है। एकांत और अबाध स्थान में संसाराभिमुखी एवं विषयासक्त इंद्रियों को अंतर्मुखी बनाना प्रतिसंलीनता है। प्रतिसंलीनता को संलीनता अथवा विविक्त शय्यासन भी कहा जाता है। एकान्त अनापात और स्त्री–पुरूष से रहित शयन, आसन का सेवन करना विविक्तशय्यासन है। उत्तराध्ययन सूत्र में इसे संलीनता कहा है।[19] आचारांग में इंद्रिय प्रतिसंलीन शब्द का प्रयोग नहीं किया गया है। परमदर्शी की अर्हताओं का उल्लेख करते हुए कहा है–जो परम को देखता है, वह विविक्तजीवी होता है।[20] विविक्तजीवी का तात्पर्य है–रागद्वेष से मुक्त होकर जीने वाला अथवा एकांतजीवी। प्रस्तुत ग्रंथ में इंद्रिय संवृत के लिए आलीन शब्द प्रयुक्त हुआ है।[21]

आभ्यंतर तप : प्रशस्त भावधारा से चित्त को निर्मल करना आभ्यंतर तप है। आंतरिक तप के अभाव में बाह्य तप अधिक कार्यकारी नहीं हो सकते। उत्तराध्ययन में प्रायश्चित, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, ध्यान और व्युत्सर्ग इन छः भेदों का उल्लेख हैं। मूलाचार में भी इसी क्रम से भेदों का उल्लेख हैं। इन्हें आंतरिक तप कहा जाता है। क्योंकि ये–

1. बाहरी द्रव्यों की अपेक्षा नहीं रखते।
2. मुक्ति के अंतरंग कारण है।
3. ये विशिष्ट व्यक्तियों द्वारा तप के रूप में स्वीकृत होते हैं।
4. ये लोक प्रसिद्ध नहीं होते, लोक में इनकी स्पष्ट प्रतीति नहीं होती।

प्रायश्चित्त : मन का नियमन जिस क्रिया से होता है, वह प्रायश्चित्त है। आलोचना आदि दस प्रकार के प्रायश्चित्त का सम्यक् पालन करना प्रायश्चित्त तप है।[22] व्युत्पत्ति की दृष्टि से प्रायश्चित्त दो शब्दों से निष्पन्न हैं। प्रायः+चित्त। प्रायः का अर्थ है– अपराध और चित्त का अर्थ है– शोधन। वह क्रिया प्रायश्चित्त है, जिसके करने से

अपराध की शुद्धि होती है। मूलाचार के अनुसार अपराध का परिष्कार, जिस प्रक्रिया से हो, वह प्रायश्चित्त है।[23] तत्त्वार्थराजवार्तिक में प्रायश्चित्त के प्रयोजन को बतलाते हुए कहा गया है– प्रमादजनित दोषों के निराकरण, भावों की प्रसन्नता, शल्यरहित, अव्यवस्था निवारण, मर्यादा का पालन, संयम की दृढ़ता तथा आराधना की सिद्धि के उद्देश्य से श्रमण को प्रायश्चित्त करना चाहिए।[24]

आचारांग में इस प्रकार भेद–प्रभेद का उल्लेख नहीं है। किन्तु प्रस्तुत संबंध में सूत्रकार ने जो कुछ कहा है, गागर में सागर भर दिया गया है। तं परिण्णाय मेहावी इत्याणिं णो जमहं पुव्वमकासी पमाएणं।[25] उक्त सूत्र में प्रायश्चित्त के सारे विधि–नियम व प्रकार समाविष्ट हो जाते है।

विनय : विनय शब्द 'वि' उपसर्ग पूर्वक 'नी' नयने धातु से बना है। विनयतीति विनयः। इस प्रकार विनय के दो अर्थ होते हैं– दूर करना व विशेष रूप से प्राप्त करना। संयम की सम्यक् अनुपालना के लिए विशेष उद्यम करना, परीषहों को सहन करना, यथायोग्य आवश्यक क्रियाओं में हानि न होने देने वाला तप, विनय है। अभ्युत्थान, हाथ जोड़ना, आसन देना, गुरुजनों की भक्ति करना और भावपूर्ण शुश्रूषा करना विनय कहलाता है।[26] ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप के अतिचार रूप अशुभ क्रियाओं से निवृत्ति का नाम विनय है।[27]

पूज्येष्वादरो विनयः।[28]

रत्नत्रयवत्सु नीचैवृत्ति विनयः।[29]

विलयं नयति कर्ममलमितिः विनयः।[30]

आचारांग सूत्र में ज्ञानादि विनय के प्रसंग में कहा है–जैसे विहगपोत अपने माता–पिता की इच्छा का पालन करता है वैसे ही शिष्य ज्ञानी गुरुजनों की आज्ञा का पालन करे।[31] प्रस्तुत ग्रंथ में विनय शब्द आचार के अर्थ में भी प्रयुक्त हुआ है। आरंभमाणा विणयं वयंति।[32] प्रस्तुत सूत्र में विनय का अर्थ–आचार अथवा अनुशासन है।

वैयावृत्य : आभ्यंतर तप का तीसरा भेद– वैयावृत्य है। आचार्यादि की सेवा करना– वैयावृत्य है।[33] कायचेष्टया द्रव्यान्तरेण चोपासनं वैयावृत्यम्।[34] शरीर की चेष्टा या अन्य द्रव्य द्वारा उपासना करना वैयावृत्य है। धवला में व्यापारादियत्क्रियते तद्वैयावृत्यम् ऐसा उल्लेख किया है।[35] बैठने का स्थान, उपकरणों का शोधन करना, निर्दोष आहार, औषध देकर उपकार करना, स्वाध्याय, व्याख्यान करना, अशक्त रोगी की सेवा करना, उनके हाथ और पैर दबाना, उपद्रव्य आदि से दूर करना ये सारे कार्य वैयावृत्य कहलाते हैं।[36] सर्वार्थसिद्धि में वैयावृत्य के प्रयोजन का उल्लेख करते हुए कहा हैं–

1. समाधि की प्राप्ति
2. विचिकित्सा का अभाव
3. प्रवचन–वात्सल्य की अभिव्यक्ति।[37]

स्वाध्याय : स्वाध्याय शब्द दो शब्दों से निष्पन्न है। स्व+अध्याय। यहां 'स्व' का अर्थ है–आत्मा के लिए हितकर तथा अध्याय का अर्थ है–अध्ययन। इस दृष्टि से स्वाध्याय का तात्पर्य है आत्मा के लिए हितकर शास्त्रों का अययन करना। इसका निरूक्त इस प्रकार भी हो सकता है–

सु + आ + अध्याय।
सु–सम्यक् शास्त्रों का
आ–मर्यादा पूर्वक
अध्याय–अध्ययन

यहां सम्यक् से तात्पर्य है– घोष अर्थात् विराम पूर्वक धीरे–धीरे पढ़ना। इस दृष्टि से सविधि शास्त्रों का अर्थशुद्धि व वचनशुद्धि सहित अध्ययन करना स्वाध्याय है। ज्ञानभावनालस्यत्यागः स्वाध्यायः। स्वस्मै हितोऽध्यायः स्वाध्यायः।[38] शिवार्य ने इसके महत्त्व को प्रकट करते हुए कहा है–स्वाध्याय (जिन वचन रूप शिक्षा के अभ्यास) से ज्ञान, नवीन–नवीन संवेग, रत्नत्रय में निश्छलता, स्वाध्याय, तप, भावना तथा परोपदेश की क्षमता आदि गुणों का विकास होता है।[39] आचार्य अकलंक ने स्वाध्याय के आठ गुण बतलाए हैं– प्रज्ञातिशय, प्रशस्त अध्यवसाय, प्रवचनस्थिति, संशयोच्छेद, परवादियों की शंका का अभाव, परमसंवेग, तपोवृद्धि, अतिचार शुद्धि।[40]

क्षेत्र का विवेक : क्षेत्र किस दर्शन से प्रभावित है, इसका ज्ञान होना भी जरूरी है। यह विवेक न होने पर विग्रह उत्पन्न हो जाता है। काल का विवेक–किस समय क्या बोलना चाहिए, किस उक्ति, सूत्र और दृष्टांत का किस समय उपयोग करना चाहिए। भाव का विवेक रखना भी जरूरी है। धर्म कथा के समय सन्मुख परिषद् का विवेक रखना चाहिए।

आगमज्ञ मुनि पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण सभी दिशाओं और विदिशाओं में जीवलोक की दया को ध्यान में रखकर धर्म की व्याख्या करें, उसके विभाग का निरूपण और उसके परिणाम का प्रतिपादन करें। सब प्राणी, भूत, जीव और सत्त्वों के सामने विवेकपूर्ण धर्म की व्याख्या करता हुआ भिक्षु न अपने आपको बाधा पहुंचाएं, न दूसरों को बाधा पहुंचाएं और न अन्य प्राणी, भूत, जीव और सत्त्वों को बाधा पहुंचाएं।

ध्यान : तत्त्वार्थसूत्र मे व्यग्रं ज्ञानं एकाग्रं ध्यानं अनेक मुखी चित्तवृत्ति को एकमुखी बनाना ध्यान है।[41] ध्यानशतक में चेतना के चल व स्थिर दो भेद करके चल चेतना को चित्त व स्थिर चेतना को ध्यान कहा गया है।[42] किसी शुभ विषय पर मन को टिकाना ही ध्यान है। प्रेक्षाध्यान के अनुसार वह क्षण ही ध्यान का क्षण है, जो क्षण रागद्वेष से रहित है। एकाग्र चिंतन को ध्यान कहा जाता है। इस व्युत्पत्ति के आधार पर ध्यान के चार प्रकार बताए गये हैं–

1. आर्त्त–चेतना की अरति या वेदनामय एकाग्र परिणति को 'आर्त्तध्यान' कहा जाता है।
2. रौद्र ध्यान–चेतना की अयथार्थ सत्य में लगी परिणति को रौद्र ध्यान कहा जाता है।
3. धर्म्य ध्यान –चेतना की यथार्थ सत्य में लगी हुई परिणति को धर्म्य ध्यान कहा जाता है।
4. शुक्लध्यान–चेतना की उपाधि रहित (सहज) परिणति को शुक्लध्यान कहा जाता है।

आचारांग सूत्र में ध्यान क्या?, ध्यान क्यों, ध्यान की प्रक्रिया तथा ध्यान के प्रकारों का उल्लेख है। ध्यान का आदि और अंतिम बिन्दु अन्तरात्मा की संप्रेक्षा है। ध्यान का अर्थ है– अपने द्वारा अपने आपको देखना। देखने वाली आत्मा है– ज्ञान। इसलिए सूत्रकार ने कहा है अंतरं च खलु इमं संपेहाए।[43] अर्थात् इस अंतरात्मा की संप्रेक्षा करो, जानो, देखो। ज्ञान और उपयोग आत्मा के द्वारा आत्मा की होने वाली विविध पर्यायों को जानो, देखों। आचारांग में ध्यान के लिए पासह, संपेहा, दंसी, पडिलेहा आदि शब्दों का प्रयोग किया गया है।

निष्कर्ष : इसप्रकार जैन परम्परा में तप की विशद् चर्चा की गई है। जैन परम्परा में तप द्वारा शरीर, इन्द्रियों के विषय एवं मन को नियंत्रित करने की बात कही गई है। इन तपों से संचित कर्मों का नाश होता है, आत्म विकाश में सहयोग प्राप्त होता है।

सन्दर्भ–सूची :

1. मुंडकोपनिषद 1/1/8
2 तैत्तिरीय उपनिषद् 32/3/4
3. मुंडकोपनिषद् 2/1/10
4. सुत्तनिपात 16/10

5. दंसण पाहुण, गाथा 30
6. दशवैकालिक जिनदास चूर्णि पृ. 15
7. निशीथ–भाष्य, पृ. 25
8. तत्त्वार्थराजवार्तिक 9/19
9. निशीथ चूर्णि, भाग 3, पृ. 294
10. मूलाचार, गाथा 350
11. उत्तराध्ययन सूत्र, 30/14
12. उत्तराध्ययन सूत्र, 30/26
13. मूलाचार, गाथा 352
14. आचारांग सूत्र, 5/79
15. ठाणं सूत्र 4/581
16. उत्तराध्ययन सूत्र, 30/27
17. मूलाचार, गाथा 356
18. वसुनंदी, श्लोक 351
19. उत्तराध्ययन सूत्र,30/8
20. मूलाचार, गाथा 357
21. आचारांग सूत्र 3/61
22. उत्तराध्ययन 30/31
23. मूलाचार, गाथा 361
24. तत्त्वार्थराजवार्तिक 1/22 पृ. 620
25. आचारांग सूत्र 1/70
26. उत्तराध्ययन सूत्र, 30/32
27. मूलाचार, गाथा 364
28. सर्वार्थसिद्धि 9/20
29. धवला टीका, 13/5/426
30. भगवती आराधना, विजयोदया टीका 300/511/21
31. आचारांग सूत्र 6/74
32. आचारांग सूत्र 6/171 180, 181, 182, 183, 184, 188, 189, 190, 200, 201,202
33. उत्तराध्ययन सूत्र, 30/36
34. सर्वार्थसिद्धि 9/20
35. धवला टीका 13/5
36. मूलाचार, गाथा 391–392
37. सर्वार्थसिद्धि 9/24
38. सर्वार्थसिद्धि 9/20

39. भगवती आराधना, गाथा 99

40. तत्त्वार्थराजवार्तिक 2/9/25

41. तत्त्वार्थराजवार्तिक 9/27

42. ध्यान शतक गाथा 2

43. आचारांग सूत्र 2/11